THE TIMES OF INDIA

Date: 09-05-26

Germ war

Hantavirus a nudge to test our pandemic readiness

TOI Editorials

A cruise ship has become the scene of a deadly virus outbreak, and everyone's on edge. Is another pandemic starting? No. Hantaviruses – there are many types – mostly don't spread human-to-human. Also, unlike Covid virus, which was 'novel' or new, Hantaviruses have been around forever, sickening and killing humans across continents. That said, the virus strain that's caused the MV Hondius outbreak is different. It's the 'Andes strain' that, according to WHO, shows "limited transmission capability between humans". That's how eight suspected cases – five confirmed – and three deaths have occurred. It's also a far deadlier strain, capable of killing up to half of infected persons.

Any place with rodents – rats, mice – can have an outbreak, and India's had some. Warehouse workers, who come in contact with rodent urine, droppings and saliva, and rodent catchers, like TN's Irula tribe, are especially susceptible. As far as the ship outbreak with Andes strain is concerned, no case has been detected in India so far. But since exposed persons may not show symptoms for up to six weeks, we should be on our guard. Contact tracing the ship's passengers is the first line of defence. After that, it's time to put our Covid learnings to use. Niti Aayog in 2024 said the first 100 days of an outbreak are most crucial. We are still in those first few weeks. Is our epidemiological surveillance on, is the integrated health information platform active? And when are we planning to enact the proposed Public Health Emergency Management Act?

दैनिक भास्कर

Date: 09-05-26

हमारे देश में 'ग्रॉस डोमेस्टिक हैप्पीनेस' भी कुछ कम नहीं

पवन के. वर्मा, (पूर्व राज्यसभा सांसद व राजनयिक)

भूटान- जहां मैंने राजदूत के रूप में सेवाएं दी हैं- को जीडीपी के बजाय 'जीडीएच' (ग्रॉस डोमेस्टिक हैप्पीनेस) शब्द रचने का श्रेय दिया जाता है। हिमालय की गोद में बसे इस सुंदर देश में जीडीएच वास्तव में ऊंचा है। लेकिन भारत में भी यह कम नहीं। यह एक ऐसी वास्तविकता है, जिसे समाजशास्त्री और आगंतुक स्पष्ट देख सकते हैं। भला ऐसा कैसे सम्भव है कि एक देश- जहां आमजन प्रतिदिन भयावह चुनौतियों से जूझते हैं- वह इतनी अदम्य प्रसन्नता भी बिखेरता है? यह कैसे सम्भव है कि तंगहाली से भरी गलियों में भी हंसी-ठट्ठे की आवाजें सुनाई देती हैं, सीमित साधनों वाले घरों में भी अतिथि-सत्कार बिना किसी कंजूसी के होता है; और असफलताओं के बावजूद निराशा शायद ही कभी हावी होती है? भारत के 'हैप्पीनेस कोशेंट' (प्रसन्नता-सूचकांक) को समझने के लिए हमें आमदनी और बुनियादी ढांचे जैसे मानकों से आगे बढ़कर हमारी सभ्यतागत चेतना के ताने-बाने में प्रवेश करना होगा।

भारतीय-संतोष के केंद्र में परिवार नामक संस्था है। संयुक्त परिवार व्यवस्था भले ही शहरी भारत में क्षीण हो रही हो, लेकिन वह अब भी एक केंद्रीय संस्था बनी हुई है। एक बच्चा यहां किसी पृथक व्यक्ति के रूप में नहीं, बल्कि रिश्तों के एक जीवंत तारामण्डल- दादा-दादी, चचेरे-ममेरे भाई-बहन, चाचा-चाची, मामा-मामी आदि के बीच बड़ा होता है। इनमें से हर कोई उसे स्नेह, अनुशासन और निरंतरता देता है। विपत्ति के समय रिश्तों का यही संजाल भावनात्मक-सांत्वना का काम करता है। यहां व्यक्ति अकेले नहीं गिरता; उसे थाम लिया जाता है। यही भाव समुदाय तक विस्तृत होता है, जहां सामाजिक जीवन शायद ही कभी विखंडित होता है। पश्चिम में अकेलेपन को महामारी कहा गया है। लेकिन भारत में एकांत ऐसा विलास है, जो बहुत कम लोगों को उपलब्ध है- और बहुतों को इसकी चाह भी नहीं होती।

हमारा कैलेंडर भी संस्थागत आनंद की मास्टरक्लास ही समझिए। होली के उच्छृंखल रंगों से लेकर दिवाली की आलोकमय रात्रियों तक, पोंगल के फसल-उत्सव से लेकर ईद-उल-फितर के सामुदायिक भोज तक- पूरा वर्ष इस स्मरण से भरा रहता है कि जीवन को साथ मिलकर उत्सव की तरह जीना चाहिए। यहां तक कि जन्म, उपनयन, विवाह आदि संस्कार भी हमारे यहां सामूहिक सहभागिता के अवसर बन जाते हैं।

छोटे-छोटे सुखों के लिए भी भारतीय प्रतिभा देखते ही बनती है। सड़क किनारे की दुकान पर शाम की चाय; क्रिकेट पर होने वाली जीवंत बहसें; भीड़भरी ट्रेनों या चॉलों में अचानक फूट पड़ने वाली हंसी; परिवार के साथ किसी प्रिय टीवी धारावाहिक को देखने का अनुष्ठान- ये सब साधारण, मितव्ययी, किंतु गहरे संतोष देने वाली आत्मीयता के संस्कार हैं।

इसका एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण हमारे जीवन में आशा का अस्तित्व भी है। राजमार्गों पर चलने वाले ट्रकों तक पर अकसर ऐसी पंक्तियां लिखी मिल जाती हैं : 'मिलेगा मुकद्दर'। यह भावना कि अचानक कहीं से कोई ईश्वरीय वरदान मिल सकता है, किसी गुरु का आशीर्वाद असर कर सकता है, कोई धार्मिक दान फल दे सकता है या कोई अनुष्ठान चमत्कार कर सकता है- भारतीय मन से कभी विलुप्त नहीं होती। 'किस्मत का करवट लेना' या 'भाग्य का बदलना' यहां केवल प्रचलित मुहावरे ही नहीं, आस्था के विषय भी हैं। हिंदू मिथकों में झोपड़ियों के महलों में बदल जाने और साधारण धातुओं के सोना बन जाने की कथाएं भरी पड़ी हैं। मुझे अपने बुजुर्गों की कही बात याद आती है : 'न जाने किस भेष में मिल जाएं भगवान।'

हमारी एक बड़ी शक्ति हमारा दार्शनिक स्वभाव भी है। कर्म का सिद्धांत- जिसे अक्सर नियतिवाद कह दिया जाता है- अपने जीवंत अनुभव में समत्व का आमंत्रण है। यह संकेत देता है कि जीवन एक ब्रह्मांडीय नैतिक व्यवस्था के अनुरूप संचालित होता है। प्रयास करना अनिवार्य है, किंतु परिणाम मनुष्य के नियंत्रण में नहीं होते। फल की आसक्ति त्यागकर अपने कर्तव्य का पालन करने का गीता का उपदेश हमारी सांस्कृतिक चेतना में गहराई तक समा चुका है।

सदियों के आक्रमणों, औपनिवेशिक शोषण, विभाजन और दीर्घकालिक आर्थिक कठिनाइयों ने अस्तित्व-रक्षा की एक सामूहिक स्मृति को हमारे भीतर गहरे बैठा दिया है। सहते रहना यहां कोई असाधारण बात नहीं; एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसी सहनशीलता से एक स्थिरचित्त विनोदबोध जन्मा है- अपनी ही दुर्दशा पर हंस सकने की क्षमता। संसार मूलतः मायामय है- यह विश्वास भौतिक उपलब्धियों के आनंद को कम नहीं करता, किंतु विपत्ति के समय यह असफलता को दार्शनिक स्वीकार्यता का एक कवच अवश्य प्रदान करता है।

Date: 09-05-26

खेलों की 'सॉफ्ट पावर' को हमें गम्भीरता से लेना होगा

बोरिया मजुमदार, (सचिन तेंदुलकर की आत्मकथा के सहलेखक और खेल पत्रकार)

बंगाल के चुनाव परिणामों पर काफी बात हो चुकी है, इसलिए मैं एक दूसरे विषय पर बात करना चाहूंगा। और वो यह है कि ताजा नतीजों का इस राज्य में खेलों पर क्या प्रभाव पड़ सकता है? क्या चीजें बेहतर हो सकती हैं, और आगे का रास्ता क्या हो सकता है?

तथ्य यह है कि पिछले कुछ वर्षों में बंगाल में खेलों के क्षेत्र में कोई वास्तविक प्रगति नहीं हुई है। राज्य में कोई बड़े टूर्नामेंट आयोजित नहीं हुए हैं। कुछ हॉकी टर्फों को छोड़ दें तो कोई अन्य बुनियादी ढांचा विकसित नहीं हुआ है और न ही राज्य से कोई उल्लेखनीय प्रतिभा उभर कर सामने आई है। यह वहां की राजनीतिक व्यवस्था की आलोचना नहीं है, लेकिन सच्चाई यह है कि पड़ोसी राज्यों की तुलना में अंतर साफ दिखाई देता है।

बिहार में खेल बजट अब चालू वर्ष के लिए 550 करोड़ रुपए से अधिक हो चुका है। ओडिशा इसे पहले ही कई वर्षों से 1000 करोड़ रुपए के पार पहुंचा चुका है। पिछले एक दशक में उसने अनेक अंतरराष्ट्रीय खेल आयोजनों की मेजबानी की है।

बिहार ने भी अब ऐसा करना शुरू कर दिया है। तेलंगाना ने भी कई रणनीतिक खेल साझेदारियां की हैं और हाल ही में उसने महिला हॉकी विश्व कप क्वालिफायर की मेजबानी भी की थी। बंगाल में भी अपार सम्भावनाएं हैं और गंभीर प्रयास किए जाएं, तो हालात बदलते दिखाई दे सकते हैं।

मैं राजनीतिक ताने-बाने पर टिप्पणी करने के लिए स्वयं को योग्य नहीं मानता, लेकिन इतना मैं निश्चित रूप से कह सकता हूं कि खेल एक बहुत बड़ा अवसर हैं। तीरंदाजी, टेबल टेनिस, फुटबॉल, निशानेबाजी, मुक्केबाजी- इन सभी खेलों का बंगाल में बड़ा भविष्य है, बशर्ते प्रतिभाओं को सही ढंग से पहचाना और संवारा जाए। और इतना मानना पर्याप्त होगा कि भाजपा इसे साबित करने के लिए हरसम्भव प्रयास करेगी। यही वह चीज है, जो खेलों के लिए अवसर पैदा करती है।

भारत पहले ही 2030 राष्ट्रमंडल खेलों की मेजबानी कर रहा है। हम 2036 ओलंपिक और 2038 एशियाई खेलों की मेजबानी के लिए भी बोली लगा रहे हैं। स्पष्ट है कि खेल को अब एक 'सॉफ्ट पावर' माध्यम के रूप में देखा जा रहा है, और आशावाद की जड़ भी यही है। इस क्षेत्र में कुछ ठोस करना देश का ध्यान आकर्षित करेगा और राजनीतिक वर्ग को भी लाभ पहुंचाएगा, क्योंकि यह अपेक्षाकृत आसान उपलब्धि है। बड़े उद्योगों की स्थापना या रोजगार-सृजन की तरह यहां प्रभाव दिखाने में बहुत लंबा समय नहीं लगता। खेलों में आप अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिताओं की मेजबानी शुरू कीजिए, कोई 'खेलो इंडिया' आयोजन कराइए, राष्ट्रीय खेलों का आयोजन कीजिए- और अचानक पूरे राज्य के इर्द-गिर्द एक नई हलचल पैदा हो जाती है। पश्चिम बंगाल में भी निश्चित रूप से यह क्षमता मौजूद है और पूरी सम्भावना है कि अगले एक-दो वर्षों में इस दिशा में कुछ महत्वपूर्ण होता हुआ हमें दिखाई दे।

शतरंज को ही लें। वर्षों से बंगाल की इस खेल में समृद्ध परम्परा रही है। हमने टाटा स्टील शतरंज टूर्नामेंट जैसे आयोजनों को देखा है। इस खेल का एक इतिहास है। फिर अधिक अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिताएं क्यों नहीं आयोजित की जा सकतीं? यही बात मुक्केबाजी, तीरंदाजी और टेबल टेनिस पर भी लागू होती है। नेताजी इनडोर स्टेडियम या खुदीराम अनुशीलन केंद्र में आखिरी बार कोई बड़ा खेल आयोजन कब हुआ था? बंगाल में बड़े होते समय मैंने इन परिसरों में अनेक अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिताएं आयोजित होते देखी थीं। लेकिन अब इन स्टेडियमों का उपयोग ज्यादातर राजनीतिक सभाओं और एक्सपो के लिए होता है। रग्बी भी ऐसा खेल है जिसमें बहुत कुछ किया जा सकता है। भारत ने चीन में हुए 2023 के एशियाई खेलों से पहले कोलकाता में महिला प्रशिक्षण शिविर आयोजित किया था।

हाल के वर्षों में बंगाल ने किसी बड़े खेल आयोजन की मेजबानी नहीं की है और जब करने की कोशिश की भी- जैसे लियोनल मेसी की भारत-यात्रा के दौरान- तो वह अंततः एक तमाशे में बदल गया। भाजपा इस मुद्दे पर बेहद मुखर रही है, इसलिए अब यह उसी की जिम्मेदारी है कि वह राज्य की संभावनाओं को सामने लाए और इस क्षेत्र में ठोस काम करके दिखाए। इसका पहला संकेत तब मिलेगा, जब नए खेल मंत्री की नियुक्ति होगी और नई सरकार का पहला बजट सामने आएगा।

दैनिक जागरण

Date: 09-05-26

सरकार और देश में अंतर करना जरूरी

प्रो. मनोज कुमार झा, (लेखक राजद के राज्यसभा सदस्य हैं)

लोकतंत्र की सबसे बुनियादी सच्चाइयों में से एक यह है कि देश और सरकार एक ही इकाई नहीं होते। यह फर्क केवल सैद्धांतिक नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक स्वास्थ्य का मूल आधार है। देश एक जीवंत, बहुस्तरीय और निरंतर विकसित होने वाली सामूहिक चेतना है और उसकी विविधताओं, संघर्षों, इतिहास, आकांक्षाओं और भविष्य का समुच्चय होता है। इसके विपरीत, सरकार एक अस्थायी व्यवस्था है, जिसे जनता समय-समय पर चुनती है। सरकारें आती-जाती रहती हैं, पर देश बना रहता है। इस सरल-सी प्रतीत होने वाली सच्चाई को धुंधला करना, लोकतंत्र के आत्मा को कमजोर करना है। समस्या तब उत्पन्न होती है, जब सत्ताधारी दल अपने राजनीतिक हितों को राष्ट्रहित के रूप में प्रस्तुत करने लगता है। यह प्रवृत्ति नई नहीं है, लेकिन आज के दौर में इसका स्वर अधिक मुखर और आक्रामक हो गया है। सरकार की आलोचना को देश की आलोचना के रूप में चित्रित करना, असहमति को राष्ट्रद्रोह के साथ जोड़ देना और किसी एक नेता की छवि को राष्ट्र की गरिमा के साथ मिला देना, ये सभी प्रवृत्तियां लोकतांत्रिक विमर्श को सीमित करने के औजार हैं। इससे नागरिकों पर दबाव पैदा होता है कि वे सवाल उठाने से बचें, अन्यथा उन्हें "देश-विरोधी" ठहरा दिया जाएगा। यह माहौल लोकतंत्र की मूल भावना-स्वतंत्र विचार और बहस के सर्वथा प्रतिकूल है।

किसी भी स्वस्थ लोकतंत्र में आलोचना केवल एक अधिकार नहीं, बल्कि नागरिकों का कर्तव्य भी होती है। सरकार की नीतियों, निर्णयों और कार्यशैली पर सवाल उठाना, उनका विश्लेषण करना और आवश्यकतानुसार उनका विरोध करना सक्रिय नागरिकता के अनिवार्य तत्व हैं। यदि यह प्रक्रिया कमजोर पड़ती है, तो सत्ता का केंद्रीकरण बढ़ता है और जवाबदेही कम होती जाती है। जब-जब सरकार और राष्ट्र को एक मान लिया गया, तब-तब लोकतांत्रिक संस्थाएं कमजोर हुईं, नागरिक अधिकारों पर आघात हुआ और तानाशाही प्रवृत्तियां पनपीं। किसी भी उच्च पदस्थ नेता की गरिमा और प्रतिष्ठा निस्संदेह महत्वपूर्ण होती है, लेकिन उसे राष्ट्र की गरिमा का पर्याय बना देना एक खतरनाक सरलीकरण है। राष्ट्र की प्रतिष्ठा किसी एक व्यक्ति की छवि पर नहीं, बल्कि उसके संस्थानों की मजबूती, नागरिकों की स्वतंत्रता, न्यायपालिका की निष्पक्षता और समाज की समावेशी संरचना पर निर्भर करती है। जब हम किसी नेता की आलोचना को राष्ट्र के अपमान के रूप में देखने लगते हैं, तो हम अनजाने में लोकतंत्र के उस संतुलन को बिगाड़ देते हैं, जो संस्थाओं और व्यक्तियों के बीच स्थापित होना चाहिए। यह याद रखना प्रासंगिक है कि लोकतंत्र में संस्थाएं व्यक्तियों से बड़ी होती हैं। व्यक्ति-पूजा का यह चलन धीरे-धीरे संस्थागत ढांचे को कमजोर करता है और लोकतंत्र को एक व्यक्ति-केंद्रित व्यवस्था में बदलने का खतरा पैदा करता है। सत्ताधारी दल का हित और राष्ट्रहित भी हमेशा एक जैसे नहीं होते। हर दल स्वाभाविक रूप से अपने विस्तार, प्रभाव और चुनावी सफलता के लिए काम करता है और यह लोकतांत्रिक राजनीति का हिस्सा है, लेकिन जब इन हितों को राष्ट्रहित के रूप में प्रस्तुत किया जाता है और विरोध की आवाजों को दबाने का प्रयास होता है, तब समस्या पैदा होती है। इससे नीति-निर्माण में विविध दृष्टिकोणों की गुंजाइश कम हो जाती है और निर्णय एकतरफा हो सकते हैं।

लोकतंत्र का सार ही यह है कि विभिन्न विचारों के बीच संवाद हो और उसी से नीतियों का निर्माण हो। इस बहस में सबसे केंद्रीय भूमिका नागरिक की है। लोकतंत्र में नागरिकों की सक्रिय भागीदारी आवश्यक है। सवाल पूछना, जानकारी जुटाना, नीतियों का मूल्यांकन करना और अपनी स्वतंत्र राय बनाना, ये सभी लोकतांत्रिक नागरिकता के आवश्यक तत्व हैं। यदि नागरिक इस जिम्मेदारी से पीछे हटते हैं, तो सत्ता का असंतुलन बढ़ता है और लोकतंत्र कमजोर पड़ने लगता है। यह भी समझना जरूरी है कि आलोचना का अर्थ विरोध या नकारात्मकता नहीं होता। रचनात्मक आलोचना वह प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से नीतियों में सुधार होता है और शासन अधिक प्रभावी बनता है। एक परिपक्व लोकतंत्र में सरकार आलोचना को अवसर के रूप में देखती है, न कि खतरे के रूप में, लेकिन जब आलोचना को ही शत्रुता के रूप में देखा जाने लगे, तो यह लोकतांत्रिक असुरक्षा का संकेत है। आज आवश्यकता इसकी है कि हम देश और सरकार के बीच इस अंतर को स्पष्ट रूप से समझें और बनाए रखें। हमें यह स्वीकार करना होगा कि सरकारें अस्थायी हैं, लेकिन देश स्थायी है। इसलिए हमारी सर्वोपरि निष्ठा किसी दल या व्यक्ति के प्रति नहीं, बल्कि उन मूल्यों के प्रति होनी चाहिए, जो इस देश को परिभाषित करते हैं-लोकतंत्र, न्याय, समानता, संप्रभुता और स्वतंत्रता।

एक सशक्त लोकतंत्र वही है, जहां नागरिक निर्भीक होकर सवाल पूछ सकें, जहां असहमति को सम्मान मिले और जहां सरकारें स्वयं को जनता के प्रति जवाबदेह मानें। देश और सरकार के बीच की इस आवश्यक दूरी को बनाए रखना ही लोकतंत्र की सुरक्षा की सबसे बड़ी गारंटी है। यदि हम इस अंतर को भूल जाते हैं, तो हम न केवल अपनी नागरिक जिम्मेदारी से विमुख होते हैं, बल्कि उस लोकतांत्रिक आत्मा को भी कमजोर कर देते हैं, जिसने हमें एक राष्ट्र के रूप में एकजुट रखा है।

जनसत्ता

Date: 09-05-26

सेहत से खिलवाड़

संपादकीय

स्वस्थ रहने के लिए फल और हरी सब्जियों का सेवन जरूरी माना जाता है। चिकित्सक भी लोगों को अपने रोजमर्रा के आहार में इन्हें शामिल करने की सलाह देते हैं। मगर इनकी पैदावार में जहरीले रसायनों का बढ़ता इस्तेमाल गंभीर चिंता का विषय बन गया है। फलों को समय से पहले पकाने, चमकदार बनाने और हरी सब्जियों का आकार जल्दी बढ़ाने के लिए विभिन्न तरह के रसायनों का इस्तेमाल किया जाता है, जो मनुष्य के लिए घातक हो सकते हैं। ऐसा ही एक मामला हाल में मुंबई के पायधोनी इलाके में सामने आया, जहां तरबूज खाने के बाद एक परिवार के चार सदस्यों की मौत हो गई। फोरेंसिक जांच रपट के मुताबिक, मृतकों के आंतरिक अंगों और तरबूज के नमूनों में चूहे मारने की दवा के अंश पाए गए हैं।

पुलिस अब यह पता लगाने की कोशिश कर रही है कि तरबूज के अंदर यह दवा कैसे आई। इस बात की आशंका भी जताई जा रही है कि कहीं तरबूज को पकाने के लिए तो इस दवा का इस्तेमाल नहीं किया गया !

इस मामले में पुलिस की जांच के बीच अब यह सवाल उठ रहा है कि आखिर परिवार के चार सदस्यों की मौत के लिए जिम्मेदार कौन है ? फसलों को कीटों और अन्य जंतुओं से बचाने के लिए कीटनाशक तैयार किए गए हैं, लेकिन इनका अंधाधुंध और अवैज्ञानिक इस्तेमाल अब मानव के स्वास्थ्य तथा जीवन पर भारी पड़ रहा है। ऐसी खबरें भी आती रहती हैं कि कच्चे फल-सब्जियों को पकाने और उनका आकार जल्दी बढ़ाने के लिए इंजेक्शन से उनके भीतर रसायन डाला जाता है, जो कि स्वास्थ्य के लिए बेहद नुकसानदेह हो सकता है। हालांकि सरकार की ओर से कीटनाशकों की खरीद-बिक्री और इनके इस्तेमाल को लेकर नियम-शर्तें लागू की गई हैं, लेकिन इन पर कड़ाई से अमल सुनिश्चित करने में विभिन्न स्तरों पर लापरवाही साफ नजर आती है। ऐसे में इसकी नितांत जरूरत है कि संबंधित महकमे की ओर से नियमित तौर पर फल-सब्जियों की जांच की जाए, दोषियों के खिलाफ कार्रवाई हो और हानिकारक रसायनों के इस्तेमाल से सेहत पर दुष्प्रभाव को लेकर व्यापक जागरूकता फैलाई जाए, ताकि लोगों के स्वास्थ्य एवं जीवन के साथ किसी तरह का खिलवाड़ न हो ।

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 09-05-26

राज्यपाल की भूमिका पर बार-बार सवाल

आशुतोष, (वरिष्ठ पत्रकार)

तमिलनाडु में नतीजों के बाद के घटनाक्रम ने एक बार फिर राज्यपाल की भूमिका पर गहरे सवाल खड़े कर दिए है। भारतीय राजनीति में राज्यपाल की भूमिका हमेशा से विवादों में रही है। एकाध अपवाद को छोड़कर उन पर सदैव केंद्र के इशारे पर राज्य सरकार को परेशान करने और असांविधानिक तरीके से राज्य सरकार को बर्खास्त करने के आरोप लगते रहे हैं। इस खेल में कोई पार्टी या गठबंधन अपराध मुक्त नहीं है।

अमूमन सरकार गठन में राज्यपाल की कोई बड़ी भूमिका नहीं होती, लेकिन त्रिशंकु विधानसभा की स्थिति में राज्यपाल पर अक्सर अपने संविधानिक 'विवेक' का इस्तेमाल न कर केंद्र के इशारे पर काम करने के आरोप लगे हैं। वह भी सच्चाई है कि ऐसे तमाम राज्यपालों ने एक तरह से विधायकों की खरीद-फरोख्त के लिए दरवाजे खोले और अनैतिक राजनीति को बढ़ावा दिया। तमिलनाडु में चुनावी नतीजों के आने के बाद वैसी ही आशंका ने जन्म ले लिया था।

तमिलनाडु में विजय की पार्टी टीवीके के चुनाव में सबसे बड़ी पार्टी बनकर उभरने के बावजूद सरकार बनाने का न्योता देने में आनाकानी ने यहां के राज्यपाल की भूमिका को कठघरे में खड़ा किया है। विपक्ष ने तर्क दिया कि एसआर बोम्मई मामले में ग्रीम कोर्ट का फैसला बहुत साफ कहता है कि बहुमत साबित करने का प्लेटफॉर्म विधानसभा है, न कि लोकभवन। ऐसे में, राज्यपाल कैसे यह तय कर सकते हैं कि किसके पास बहुमत है और किसके पास नहीं? उन्हें सबसे बड़ी पार्टी के नेता

को सरकार बनाने के लिए बुलाना चाहिए। तमिलनाडु के राज्यपाल राजेंद्र आलेकर गोवा में स्पीकर रह चुके हैं और वह नहीं कहा जा सकता कि उन्हें संविधान की समझ नहीं है। विजय ने दो बार राज्यपाल से मुलाकात करके सरकार बनाने का दावा किया, पर दोनों बार उन्होंने उनसे बहुमत का आंकड़ा लाने को कहा।

दरअसल, त्रिशंकु विधानसभा की स्थिति में सरकार बनाने के लिए राज्यपाल किसे बुलाएंगे, इस पर संविधान में बहुत स्पष्टता नहीं है। ऐसे में राज्यपाल का विवेक महत्वपूर्ण हो जाता है और सारी दिक्कत इसी विवेक के इस्तेमाल की वजह से होती है। अधिकतर राज्यपाल केंद्र सरकार के इशारे पर रखड़ स्टंप की तरह काम करते हैं।

आर्लेकर के पास वे विकल्प थे। एक शंकर दयाल शर्मा का मॉडल और दूसरा के आर नारायणन का बोम्मई मामले में सुप्रीम कोर्ट के फैसले के बाद साल 1996 में जब लोकसभा में किसी भी दल को बहुमत नहीं मिला तो तत्कालीन राष्ट्रपति शंकर दयाल शर्मा ने सबसे बड़ी पार्टी के नेता अटल बिहारी वाजपेयी को सरकार बनाने का मौका दिया। वाजपेयी बहुमत नहीं साबित कर पाए और 13 दिन में उन्हें इस्तीफा देना पड़ा और उनके बाद एचडी देवेगौड़ा प्रधानमंत्री बने।

गुजरात सरकार गिरने के बाद हुए चुनाव में जब फिर त्रिशंकु लोकसभा बनी और किसी को पूर्ण बहुमत नहीं मिला, तब उस वक्त के राष्ट्रपति के आर नारायणन ने सबसे बड़े दल को सरकार बनाने का न्योता नहीं दिया। उन्होंने कहा कि सरकार बनाने का दावा करने वाला दल वा नेता उन्हें आश्वस्त करे कि उसके पास बहुमत है और 272 सांसदों के समर्थन की चिट्टी दे जब वाजपेयी ने बीजेपी सांसदों के साथ दूसरे क्षेत्रीय दलों के समर्थन की चिड़ी नारायणन को दी, तब 1998 में उन्हें सरकार बनाने का मौका दिया गया। साल 1999 में भी नारायणन ने इसी प्रकिया का पालन किया।

शंकर दयाल शर्मा के बाद नारायणन का मॉडल भारतीय सांविधानिक और लोकतांत्रिक प्रक्रिया में एक परिष्कार है। शंकर दयाल शर्मा के मॉडल में राजनीतिक अस्थिरता के बीज हैं। नारायणन का मॉडल सैद्धांतिक स्तर पर 'हार्स ट्रेडिंग' और अस्थिरता को न्यून करता है। ऐसे में, कायदे से नारायणन के मॉडल को ही फॉलो किया जाना चाहिए, लेकिन राज्यों में राज्यपाल ने इसको पूरी तरह से नकार दिया है और वह किया, जो केंद्र सरकार ने उनको करने का कहा। इसका सबसे हास्यास्पद उदाहरण तो महाराष्ट्र का है, जब राज्यपाल भगत सिंह कोश्यारी ने सूरज निकलने के पहले ही देवेंद्र फडनवीस और अजित पवार को सरकार बनाने के लिए न केवल न्योता दिया, बल्कि आनन-फानन में शपथ भी दिला दी। वह सरकार 80 घंटे भी नहीं चली, क्योंकि उनके पास बहुमत नहीं था ।

इसी तरह, साल 2018 में कर्नाटक में त्रिशंकु विधानसभा आई थी और आनन-फानन में बिना पड़ताल किए कि येदियुरप्पा के पास बहुमत है या नहीं, उनको सरकार बनाने के लिए बुला लिया गया। यह सरकार ढाई दिन चली दोनों ही मौकों पर राज्यपाल को लगा कि फडनवीस और वेदिदुरणा के सरकार बनाने के बाद दूसरे दल समर्थन दे देंगे या फिर दूसरे दलों को तोड़कर बहुमत का आंकड़ा पूरा किया जा सकता है। ऐसे में बड़ा सवाल यही है कि आर्लेकर ने क्या नारायणन के रास्ते को और सही किया था उनका यह कदम केंद्र के इशारे पर विजय की ताजपोशी में अड़ंगे अटकाने का ही रहा ?

संविधान लागू होने के 76 साल बाद राज्यपाल की भूमिका अब एक्ट होनी चाहिए। सांविधानिक रूप से यह स्पष्ट किया जाए कि त्रिशंकु विधानसभा होने पर वह क्या कदम उठा सकते हैं और क्या कदम उनके लिये वर्जित होंगे। मेरे हिसाब से नारायणन के मॉडल को तरजीह दी जानी चाहिए भले ही सरकार बनाने में देरी हो, पर सरकार बनाने का दावा करने वाले दल वा नेता को यह सुबूत राज्यपाल को देना ही चाहिए कि उसके पास बहुमत का समर्थन है।

संविधान सभा में राज्य की भूमिका पर बहस के समय यह बात साफ तरीके से कही गई थी कि प्रदेश में सत्ता के दो केंद्र नहीं हो सकते। इसलिए वक्त आ गया है कि राज्यपाल की भूमिका पूरी तरह लिखित में निर्धारित हो ताकि वह पद का दुरुपयोग न करें और राजनीतिक अस्थिरता को जन्म न दें।

Date: 09-05-26

भारत में अच्छे गवर्नर की कोई कमी नहीं

हरबंश दीक्षित, (विधि विशेषज्ञ)

तमिलनाडु की राजनीतिक परिस्थिति ने एक बार फिर भारतीय लोकतंत्र में राज्यपाल की भूमिका को चर्चा के केंद्र में ला दिया। वहां राज्यपाल पर राजनीति से प्रभावित होने के आरोप भी लगे। वैसे वहां ध्यान रखने की बात है कि अपने देश में राज्यपाल से जुड़े विवाद अप्रिय स्थिति में कम ही पहुंचते हैं। ज्यादातर राज्यपाल अच्छे ही हुए है, जिन्होंने बहुत लोकतांत्रिक ढंग से विवायें का समाधान किया है।

राज्यपालों से जुड़े अच्छे उदाहरण ही ज्यादा है। कुछ उदाहरण अगर गिनाएं तो ध्यान आता है, साल 1998 में दिल्ली विधानसभा में किसी भी राजनीतिक पार्टी को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला था, तब उप-राज्यपाल ने बुला-बुलाकर सबसे संवाद किया था और जिस नेता ने विश्वसनीय बहुमत का भरोसा दिलाया था, उसे ही सरकार गठन के लिए बुलाया गया था। साल 2002 में जम्मू-कश्मीर में भी ऐसा ही हुआ था, तब भी महामहिम राज्यपाल ने सभी दलों से परामर्श किया और उसके बाद जब उन्हें लगा कि स्थिर सरकार बन सकती है, तब उन्होंने सरकार बनाने का न्योता दिया। कर्नाटक में साल 2023 का उदहरण भी ताजा है, जब राज्यपाल के प्रयासों से बहुत शांतिपूर्वक ढंग से नई सरकार का गठन हुआ। भारतीय राजनीति में राज्यपाल से जुड़े बुरे उदाहरण कम ही हैं, लेकिन उनकी चर्चा ज्यादा होती है।

भारत में ही नहीं, ब्रिटेन और कनाडा जैसे देशों में भी ऐसी ही परामर्श परंपरा की पालना होती है। अच्छा यही है कि तकनीकी आधार पर फैसला लेने के बजाव परामर्श का सहारा लिया जाए। परामर्श से विवादों का निपटारा हो जाता है। राज्यपालों के लिए सबसे अच्छी विधि यही है कि वे सबकी बात सुनने के बाद यथोचित निर्णय तक पहुंचें आखिर संवाद से ही पता चलता है कि कौन ठीक से सरकार चला सकता है। सभी राज्यपालों को एक ही दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। अच्छे राज्यपाल ही ज्यादा हुए हैं। राजनेताओं को भी चाहिए कि वे राज्यपाल के साथ सहयोग करें। हार को स्वीकार न करने से भी समस्या होती है और नई सरकार के गठन में कठिनाई आती है। अमेरिका में डोनाल्ड ट्रंप ने जब हार स्वीकार नहीं की, तब अप्रिय स्थिति बनी और वहां पश्चिम बंगाल में अभी ममता बनर्जी ने इस्तीफा देने से मना किया, तब भी अप्रिय स्थिति बनी राजनेताओं को ऐसा माहौल बनाना चाहिए कि राज्यपाल को सही निर्णय लेने में सुविधा हो।

तमिलनाडु में राज्यपाल को लेकर पहले भी शिकायतें रही है, लेकिन 1990 के दशक में वहां के राज्यपाल भीष्म नारायण सिंह को भी याद करना चाहिए। उन्होंने अपने समय में तमिलनाडु और वहां की राजनीति को अपने कुशल नेतृत्व से सहारा दिया था।

ताजा विवाद तमिलनाडु में तब खड़ा हुआ, जब राज्यपाल ने सबसे बड़े राजनीतिक दल के नेता विजयको सरकार बनाने के लिए तुरंत आमंत्रित नहीं किया। उनका कहना था कि पहले बहुमत का समर्थन-पत्र प्रस्तुत करें ऐसे में यह केवल एक राजनीतिक प्रश्न नहीं रह जाता भारतीय संविधान के अनुच्छेद 164 के अनुसार, मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करते हैं। जैसा कि इस बार तमिलनाडु में हुआ, कई बार किसी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं भी मिलता है। ऐसे में, संविधान राज्यपाल से अपने विवेक से ऐसा निर्णय लेने की अपेक्षा करता है, जो राष्ट्रहित में हो यही कारण है कि ऐसे मामलों में सांविधानिक परंपराओं और राज्यपाल के विवेक की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है।

सामान्य परंपरा यह रही है कि यदि किसी गठबंधन को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो, तो उसके नेता को पहले बुलाया जाए। यदि स्पष्ट बहुमत न हो, तो सबसे बड़े दल के नेता को अवसर दिया जा सकता है, बराते वह बहुमत सिद्ध करने का दावा करे। यदि कोई चुनाव पश्चात गठबंधन बहुमत का समर्थन प्रस्तुत कर दे तो उसे भी आमंत्रित किया जा सकता है। कई बार बाहर से समर्थन प्राप्त अल्पमत सरकार को भी अवसर दिया गया है। सरकारिया आयोन और पुंछी आयोग ने भी इसी प्रकार के सिद्धांत सुझाए थे, ताकि राज्यपाल का विवेक पूरी तरह व्यक्तिनिष्ठ नहीं, बल्कि वस्तुनिष्ठ हो ।

तमिलनाडु के मौजूदा मामले में राज्यपाल का यह कहना कि पहले समर्थन-पत्र प्रस्तुत किए जाएं, असाविधानिक नहीं कहा जा सकता। यदि किसी दल के पास स्पष्ट बहुमत नहीं है, तो राज्यपाल का दायित्व है कि वह स्थिर सरकार की संभावना देखे कुछ जटिल मामलों में सर्वोच्च न्यायालय ने यह विकल्प भी सुझावा है कि बहुमत का परीक्षण लोकभवन के बजाय विधानसभा के भीतर होना चाहिए। 1994 के प्रसिद्धएसआर बोम्मई बनाम भारत संच मामले में न्यायालय ने स्पष्ट कहा कि किसी सरकार का बहुमत सदन के पटल पर ही परखा जाना चाहिए। यह निर्णय भारतीय संघीय लोकतंत्र का एक महत्वपूर्ण आधार माना जाता है।

साल 2018 में कर्नाटक में भी ऐसी ही स्थिति बनी थी। किसी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला था। राज्यपाल ने सबसेबड़े दल के नेता बीएस वेदियुरप्पा को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया। कांग्रेस और जनता दल (एस) ने दावा किया कि उनके पास बहुमत है। मामला सर्वोच्च न्यायालय पहुंचा। न्यायालय ने शीघ्र 'फ्लोर टेस्ट' बनाने का निर्देश दिया। अंततः सरकार बहुमत सिद्ध नहीं कर सकी। इस प्रकरण से वह स्पष्ट हुआ कि सबसे बड़े दल को बुलाना अपने आप में असांविधानिक नहीं है। समग्रता में राज्यपाल को ऐसा व्यवहार करना चाहिए, जिससे किसी राजनीतिक दल को यह महसूस न हो कि उसके साथ अन्याय हुआ है। राजनीतिक, सामाजिक और सांविधानिक अंतसंबंधों के ताने-बाने गणित के सूत्रों की तरह सौधे और सपाट नहीं होते। सामाजिक-राजनीतिक विकास के साथ-साथ पूरी दुनिया में वे जटिलतर होते जा रहे हैं। इसलिए हर मामला अपनी पृष्ठभूमि के कारण दूसरे मामलों से अलग होता है। किंतु राजनीतिक दलों और लोकभवन, दोनों के लिए यह बात शाश्वत सत्य है कि संविधान और उसकी मर्यादा सर्वोपरि है।